ज़िन्दगी का सिस्टम

आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह

सम्पादनः नूरे हिदायत फ़ाउन्डेशन

क़िस्त-३

अब देखिये वह चीज़ जो इंसान के लिए ज़रूरी है वह क्या है? पहला दर्जा जो है? वह उसूले दीन/धर्म की जड़ें (तौहीद, अदल, नबूवत, इमामत, क़यामत) का समझबूझ के मानना, और कामों में वाजिब को करते रहना और 'हराम' (निषेध) छोड़े रहना। यह वह कम से कम ज्ञान पाना कम से कम दर्जा है जो हर इंसान के लिए ज़रूरी है और किसी को भी इससे छूट नहीं है। इसलिए इतना बिल्कुल वाजिब ज़रूरी होगा यानि हर इंसान पर बालिग़ (प्रौढ़) और समझदार होने के साथ यह फर्ज़ कर्त्तव्य होगा कि वह विश्वास वाले मसलों को दलील के साथ वाजिब व हराम के धर्म के हुक्मों को जानता हो और उनको पहचाने।

अब दूसरा दर्जा जो है वह विश्वास की विस्तार से जानकारी, पूरी तशरीह ;म्गचसंपदद्ध के साथ और धर्म मसलों को समझ व दलीलों के साथ जानना जिसका नाम इज्तेहाद (शोध, रिसर्च) है, यह हर इंसान पर वाजिब नहीं है, वरना फिर दुनिया की दूसरी ज़रूरतें पूरी न हो सकती लेकिन अलग-अलग के धर्म मज़हब के ऐतराज़ को दूर करना, और न जानने वाले लोगों को मसलों की सही जानकारी देना, ये काम ऐसे लोगों के होने पर ही निर्भर है, इसलिए एक जमाअ़त वर्ग/(Group) का हर ज़माने में रहना ज़रूरी है, जो ज्ञान के उस दर्जे पर पहुँचे हुए हों, इसलिए उस दर्जे का इल्म हासिल करना वाजिबे किफ़ाई (२) है, यानि सब पर फर्ज़ है, लेकिन जब एक या कुछ लोग ऐसे पैदा हो जायें जो इस ज़रूरत को पूरा कर सकते हों तो फिर दूसरों से यह वाजिब हट जाएगा। इसी तरह वह कुछ ज्ञान का हासिल करना जिन पर ज़िंदगी का चक्र टिका है, जैसे चिकित्सा विज्ञान (डॉक्टरी) चूंकि आम तरह रोग को दूर करना इलाज पर निर्भर है, इसलिए ज़रूरत है कि कुछ ऐसे लोग रहें जो इंसान की शारीरिक सेहत की देख रेख कर सकें।

इसी तरह खानपान कपड़े पहनावे और मकान इत्यादि की ज़रूरतों के लिए वह चीज़ें जिनसे जरूरतें पूरी होती है वह ज़रूरत के तहत 'किफ़ाई' हैसियत से आवश्यक हैं।

इसके बाद उन ज्ञान का हासिल करना जिनका मक़सद किसी तरह ख़ुदा के पैदा किए हुए को जायज़ फ़ायदा पहुंचाना हो लेकिन वह जिंदगी की जरूरतों में शामिल न हों तो वह (वान्छनीय) मुस्तहब ठहरेंगे, यानि जब इस इरादे से अंजाम दिये जायें कि इनसे ख़ुदा के पैदाप किए हुए किसी को फ़ायदा मिले तो इन पर पुण्य (सवाब) भी मिलेगा।

बाक़ी रहे ऐसे ज्ञान जिन पर कोई इस तरह का कोई मतलब नहीं है एक देश दूसरे देश की दूरी कितनी है? वहां की जनसंख्या कितनी है? वहां की पैदावार क्या है? वहां की आर्थिक हालत (Economy) कैसी है? वहां राज का सिस्टम (राजतंत्र) क्या है ? वग़ैरह-वग़ैरह। या यह कि आज से इतने सदी पहले कौन बादशाह था? उसकी राजकाल की खासियात क्या थीं? उसके ज़माने में राज की हदें कितनी थीं ? उसके ज़माने में कौन से इन्केलाब़ हुए और क्या-क्या खास हुआ? वग़ैरह-वग़ैरह। इन चीज़ों का जान लेना जायज़ व मुबाह की हद में आयेगा यानि इंसान अपने फ़ालतू वक़्त में इन बातों को भी जान ले तो कोई हर्ज नहीं। यही वह चीज़ है जिसको रसूल (स०) ने फ़रमाया, उस वक़्त जब आप मस्जिद में तशरीफ़ लाये और देखा कि एक शख़्स के चारों तररफ़ लोगों का मजमा है, हज़रत (स०) ने पूछा यह कौन हैं ? लोगों ने कहा "यह अल्लामा हैं"।

आपने फ़रमाया कि *"वमा अल्लामाः"* यह अल्लामा क्या चीज़ हैं ?

लोगों ने कहा कि यह इंसान अरब और अरब इतिहास की लड़ाइयों का जानकार है। हज़रत (स०) ने फ़रमाया - "यह ऐसा इल्म है कि न इससे फ़ायदा

पहुंचता है न नुक़सान"।

देखिये यहां डिक्शनरी (शब्दकोष) की बात रखी गयी है जो इसे ज्ञान (इल्म) यानि जानना" कहां गया? लेकिन इसके बाद फ़रमाते हैं -

ज्ञान तो बस तीन हैं अब यहाँ ज्ञान के परिभाषिक मानी हैं जो शरयी नज़रिए से बयान किये गऐ हैं): एक मोहकम आयातें, (टिकाऊ निशानियां) दूसरे अमिट हदीसें (बातेंः रसूल स०), तीसरे वाजिब (अनिवार्य) हुक्म। फ़रमाते हैं -

"इसके सिवा जो कुछ है वह फ़ाज़िल (अतिरिक्त/अलग की) चीज़ है"।

और अगर ज्ञान ऐसा हो जिससे नुक़सान पहुंचने का डर है या उसका पाप (गुनाह) से लगाव है तो वह निषेध (हराम) होगा, जैसे संगीत ज्ञान (Musical Instruments) क्योंकि इसका ज्ञान कार्य पर निर्भर है (यानि यह जानना गाने बजाने पर टिका है) तो इन मसलों को सीखने के लिए उसे अ़मली तौर पर बजाना ही पड़ेगा तभी उस बाजे को बजाने का इल्म वह सीख पाएगा लेहाज़ा वह हराम होगा। शब्द बोल के रूप में इन बातों का सुनना या जानना हराम नहीं है। जादू का ज्ञान भी हराम है मगर यह जादू की काट के लिए हो तो उस वक़्त जायज़ होगा। तीसरे बहकावों की पुस्तकें यानी झूटें धर्मों की किताबों का ख़रीदना, महफूज़ करना, पढ़ना और छापना या प्रकाशन यह सब मना हैं जब तक कि उसके साथ उनके तोड़ काट झुटलाने के जवाब देने का इरादा न हो, अगर यह इरादा हो तो जायज़ होगा बल्कि किसी हद तक वाजिब होगा ताकि उन शुब्हों (आशंकाओं) और ऐतराजों को दूर किया जा सके और सत्य का साथ देने का फ़र्ज़ पूरा हो सके।

औरतों की शिक्षा (Education of Women):

ज्ञान का मानक (standard) ये मालूम हुआ कि जो ज्ञान काम का हो वह अच्छा है। मगर उपयोगी होना हर चीज़ के लिए उसी के लेहाज़ से होता है, यानि किसी चीज़ का जो मक़सद (Aim) हो और जो उसका ख़ास काम हो, अगर उस से उपयोगी हो तब तो वह उपयोगी समझा जाएगा और अगर इस से फ़ायदेमन्द नहीं है तो बेकार है।

क़ुदरत ने इन्सान की ज़ात को दो लिंगो (Genders) में बॅाटा है, मर्द (Male) और औरत (Female) इनकी फ़ितरत की ख़ासियतें (विशेषताऐं) अलग, ज़िन्दगी की ज़रूरतें अलग, फ़र्ज़ और काम अलग। इसलिए ये कैसे हो सकता है कि शिक्षा में इनको एक ही लाइन में जगह दी जाए और दोनों के लिए एक ही तरह की शिक्षा को उपयोगी समझा जाए। बेशक औरत को तरक़्क़ी पाना चाहिए, जिस तरह मर्दो को तरक़्क़ी करना चाहिए, लेकिन मर्द को मर्द रहके तरक़्क़ी करना चाहिए और औरत को औरत रह के। दूसरे शब्दों में यह कहूं कि वह शिक्षा मर्द की होनी चाहिए जिससे वह भरपूर मर्द बन जाए और औरत के लिए ऐसी तालीम जिससे वह 'पूरी औरत' बनें।

ये चाह कि औरतों को अ़मल के मैदान में बिल्कुल मर्दो के कन्धे से कन्धा मिलाकर आना चाहिए, यह उस वक़्त सही हो सकती थी जब मर्द उन कामों में औरत के साथ साझा करने पर तैयार हो जाता जो औरत से जुड़े हैं लेकिन जबकि फ़ितरत ने औरत के लिए कुछ ख़ास काम और फ़र्ज़ रखें हैं जो बिल्कुल उसी के साथ जुड़े हुए है और जिन में किसी तरह मर्द उसके साथ अदल बदल नहीं कर सकता, तो फिर मर्दो के लिए भी कुछ ख़ास काम व फ़र्ज़ होने चाहिएं, जिन में वह औरतों को साझे को न्यौता न दें।

ये भी औरत के स्वभाव का एक कमज़ोर पहलू है कि वह मर्द की बातों में आ जाती है। जिस तरह मर्दो ने उसको रखा उसी को उसने अपने लिए अच्छा समझा। आज जबकि मर्द ही "आज़ादी-आज़ादी" पुकार रहे हैं और ये आवाज़ उठा रहे हैं कि औरतों को तरक़्क़ी के मैदान में बाहर आना चाहिए तो इसे भी औरतें समझ रही हैं कि इसमें भी हमारी भलाई सदभावना है और हमारे लिए यही ठीक है, हालांकि वह देखें तो इसमें साफ़ मर्दो का खुदग़र्ज़ी स्वार्थ उभरेगी। मालूम होगा कि मर्द ज़िन्दगी की कठिनाईयों को पूरा करने से हिम्मत हार चुका, और वह औरत को सिर्फ़ अपनी मदद के लिए बुला रहा है। हांलाकि इस से औरत को ख़ुद कोई फ़ायदा नहीं पहुँचेगा, बल्कि उसकी "नारित्व" (औरतपन) को बहुत नुक़सान पहुंचेगा।

मर्द और औरत के जिस्म की बनावट और इनके अन्दर की जीवन प्रणाली (Phisiology) ही से इनके मकसद से अलग-अलग होना बिल्कुल ज़ाहिर है। फिर जब ये फ़र्क़ अपनी जगह पर बाक़ी है और मिट नहीं सकता, तो बिला वजह इनको खींच कर मर्द के पहलू में लाने से फ़ायदा क्या है। औरत हर हाल में औरत है, और इसके लिए सही शिक्षा वही होगी जो इसको एक तरक़्क़ी पायी (Developed) 'औरत' बना दे, बेशक शिक्षा ज़रूरी है, लेकिन वह उसके लेहाज़ से होनी चाहिए।

जहाँ तक विश्वास से जुड़े मसलों की बात. है तो इसमें मर्द और औरत दोनों एक साथ हैं।

इसी तरह अल्लाह की तरफ़ से जो फ़र्ज़ लागू किए गए है वह जिस तरह मर्दो के लिए हैं उसी तरह औरतों के लिए। इसलिये इन चीज़ों का इल्म जानना जिस तरह मर्दो के लिए ज़रूरी है, उसी तरह औरतों के लिए भी।

बेशक, शरीयत के हुकमों में हो सकता है कि कुछ चीज़ ऐसी हों जिन का ताल्लुक़ औरतों ही से है मर्दो से नहीं, जैसे ख़ास-ख़ास 'तहारत (पाक होने) के मसले या जिन का ताल्लुक़ मर्दों के साथ हो औरतों के साथ नहीं, जैसे 'जेहाद के हुक्म' इस वजह से कि जेहाद औरतों पर नहीं है यानि शरीयत में औरतों के लिए जेहाद का हुक्म नहीं है, इन सब के लिये ऐसे हुक्म को जानने की ज़रूरत नहीं है बल्कि जिसकी जरूरतों से उन हुक्म का ताल्लुक़ है उसी जाति (औरत या मर्द) को उस की जानकारी लेने की ज़रूरत है।

इसके आगे ज्ञान के वह दर्जे हैं जो दुनिया के लिये ज़रूरी हैं। उनमें फ़र्क पैदा होना ही है, क्योंकि मर्द की ज़रूरतें औरत से अलग हैं।

इस्लाम ने औरत और मर्द के बीच घरेलू और बाहर के कामों की हदों को बाँट दिया है। कमाई कजाई और दौड़ धूप मर्द का काम है और घर के इन्तेज़ाम का ताल्लुक़ औरत से है, इसलिए औरत को पहले फ़र्ज़ उन चीज़ों का जानना है जो उसकी ज़रूरतों से जुडी है।

इसी वजह से हदीस में आया है कि ''इन्हें कातने और सीने की शिक्षा दो और इन्हें लिखने की न सिखाओ। इस हदीस में सामने से यह लगता है कि औरत के लिए मना है, इसलिए कुछ उलेमा भी फ़तवे देते हैं कि लिखाई इसके लिए मकरूह (वह काम जिसे ना करना अच्छा हो) है मगर ग़ौर करने से पता चलता है कि ऐसा नहीं है।

अब देखिए कि मर्दों के लिए लिखना जिस तरह किसी चीज़ का चाहना या किसी चीज़ के लिये कहना उस चीज़ के वाजिब (ज़रूरी) था मुस्तहब वह काम जिसका करना ज़रूरी न हो कर अच्छा न हो होने का पता देता मगर तभी तक जब उससे पहले मनाही रोक था रोक का शुब्हा ना हो लेकिन अगर पहले किसी काम को रोका जाये फिर कहा जाये कि उस काम को करो तो इसमें मकसद सिर्फ इजाज़त अनुमति होती है कि अब हुक्म हट गया है या कियी चीज़ के बारे में शुब्हा की जगह हो कि वह मना है और फिर उसे करने को कहा जाये तो इसका मतलब होगा कि मना होना का शुब्हा हटा दिया जाय। इसी तरह अगर किसी चीज़ के वाजिब या मुस्तहब होने के हुक्म के बाद उससे मना किया जाय तो वह उसके हराम (निषेध) या मकरूह होने की दलील न होगी बल्कि उससे मकसद यह होगा कि उसका हुक्म अब नहीं है या किसी चीज़ के बारे में वाजिब व मुस्तहेब होने का शुब्हा हो और उसके बारे में मनाही आये तो इससे उसके मुस्तहेब की नहीं होगी और बस सीखने पर बहुत ज़ोर दिया गया है इसीलिये देखने में से यह इस ख़्याल की काफ़ी गुन्जाइश है कि औरतों के लिए भी लिखने की तालीम हासिल करने का हुक्म होगा । इसके साथ कताई और सिलाई का इन के लिए पहले हुक्म दिया गया है, लेहाज़ा इस ''इन्हें लिखने की तालीम न दो'' के मानी सिर्फ़ इतने होंगे कि इनके लिए लिखने की तालीम का हुक्म उस तरह का नहीं है, जिस तरह कातने और सीने-पिरोने का, या मर्दों के लिए जिस तरह इस पर ज़ोर दिया गया है, उस तरह औरतों के लिए नहीं है। इससे ये नतीज़ा नहीं निकल सकता कि लिखना-पढ़ना इनके लिए हराम या मकरूह है, लेहाज़ा औरतों को तालीम हासिल करने में कोई रोक-टोक नहीं

है। (बस फ़र्क़ ये है कि उन्हें कातने और सीने-पिरोने की तालीम देने पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया है)।

ज़रूरी विश्वास और मसलों की जानकारी के अलावा इनको इस हद तक दूसरी जानकारियाँ भी बेहतर है जो ज़िन्दगी के निज़ाम में काम आने वाली हों जैसे - स्वास्थ्य-रक्षा वग़ैरह।

फिर अगर सारी ज़रूरी बातों के पूरा करने के बाद उनके पास खाली वक़्त हो तो दूसरे ज्ञान को लेने में भी कोई रोक-टोक नहीं, मगर ज़रूरत इस बात की है कि औरत की अपनी ख़ास बात (स्त्रित्व की विशेषताएं) बची रहें, यानि औरत, औरत ही रहे। इसकी इजाज़त किसी तरह सही नहीं है कि वह मर्दों के साथ स्कूलों और कालेजों में जाकर मर्दों के कंधे से कंधा मिला कर शिक्षा प्राप्त करें। आज नारी शिक्षा की आवाज़ उठाने वालों की तरफ़ से मिसाल में कहा जाता है जनाब सैयदा (स०) का इल्मी दर्जा कितना ऊंचा था, और जनाबे ज़ैनब (स०) को पेश किया जाता है जिनके बारे में इमाम (अ०) ने फ़रमाया *"आ़लेमतुन ग़ैरे मुइल्लिमा"* यानी ऐसी जानने वाली जिसकी कोई शिक्षिका नहीं । लेकिन यहाँ इस पर ग़ौर नहीं किया जाता कि जनाब सैयदा(स०) की मालूमात के साधन क्या थे? स्कूल और कालेज तो बहुत दूर है, दुनिया के इतिहास से यह तक साबित नहीं किया जा सकता कि जनाब सैयदा (स०) कभी मस्जिद में अपने पिताजी (अ०) के प्रवचन में जाकर बैठी हों।

बेशक ये रवायत सुनी है कि जब इमाम हसन (अ०) और इमाम हुसैन (अ०) मस्जिद से आते थे तो ज० सय्यदा (स०) अपने बच्चों से अक्सर पूछ लेती थीं कि बाबा ने क्या बयान किया। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ज० सय्यदा (स०) को इन मालूमात के लेने का शौक़ था और ये भी बिल्कुल ज़ाहिर है कि रसूलल्लाह (स०) को ज० सय्यदा (स०) की उपस्थिति बहुत अज़ीज़ थी मगर फिर कुछ प्रतिबन्ध था, जो न ज० सय्यदा (स०) ने मस्जिद में जाने की कभी ख़्वाहिश की और न रसूल (स०) ने ज० सय्यदा (स०) को इसकी इजाज़त दी। जनाबे सैयदा(स०) ने सदा के लिए, औरतों के लिए एक मिसाल बना दी कि अगर वह शिक्षा लेना चाहती हों तो इसका तरीक़ा ये है कि मर्द और वह खुद अपनी औरतों को घर के अन्दर शिक्षा दें, इसमें बड़े और छोटे का सवाल भी कोई चीज़ नहीं, अगर मौक़ा हो तो माँ अपने बेटे से ज्ञान और जानकारी का फ़ायदा ले सकती है। यह कहा जा सकता है कि शरीयत वाला परदे के लिये औरतों को बुर्क़ा ओढ़कर घर से बाहर निकलने से मना नहीं करता, मगर मालूम होना चाहिए कि ज़रूरत के लेहाज़ से जाएज़ होने की हदें चाहे कुछ हों लेकिन शरीयत का पहला मक़सद औरतों का घर के अन्दर ही रहना है। अगर ऐसा न होता तो औरतों के लिए शरीयत के मसलों में छूट न दी जाती। जुमे की नमाज़ मर्द के लिए वाजिब है लेकिन औरतों पर इसका हुक्म नहीं।

जमाअत (सामूहिक) से नमाज़ की अच्छाई बड़ाई मर्द के साबित, औरतों के लिए नहीं। मर्द के लिए, जमाअ़त के लेहाज़ से मस्जिद की अच्छाई बड़ाई जिससे दर्जे बलन्द होते हैं, इसलिए घर से ज़्यादा सवाब मस्जिद में और मोहल्ले की मस्जिद से ज़्यादा सवाब जामा मस्जिद में, क्योंकि वहाँ ज़्यादा लोग इकट्ठा होते है। मगर औरत के लिए ये हुक्म कि घर के बाहर नमाज़ पढ़ने से ज़्यादा सवाब (पुण्य) घर के अन्दर का, और सहन से ज़्यादा सवाब अन्दर की दालान या कोठरी का।

इससे मालूम होता है कि शरीयत का नज़रिया क्या है? मुझे उन लोगों से जो औरतों की शिक्षा की बातें करते है और परदे के ख़िलाफ़ हैं, इसकी शिकायत नहीं है कि वह ये राय क्यों रखते हैं। हो सकता है इनके दिमाग़ ने यही फ़ैसला किया हो मगर मुझे उनसे इस बात की शिकायत है कि वह इस्लाम की शरीयत की हिदायतों को अपने मिज़ाज के मुताबिक़ ठहराना चाहते हैं, हालांकि ये बिल्कुल ग़लत है। यूँ आप इसको न मानते हों, ये आप का काम है, मगर ये न कहिए कि शरीयत भी हमसे मेल खाए।

माँ-बाप अगर शरीयत पर चलते हैं, तो उन्हें अपनी लड़कियों को चाल-चलन शिष्टाचार सिखाने बताने के साथ ज़रूरी शिक्षा भी जरूर देना चाहिए, मगर इसका ख़याल रहे कि शिक्षा के इनके प्राकृतिक स्वभाव (Natural Instinct) के ख़राब करने का ज़रिआ न हो और इनकी शर्म व लाज की पूँजी जो इनका सबसे बड़ा ज़ेवर है किसी तरह बरबाद न होने पाए।

इबादत की शुरूआती प्रैक्टिस और नमाज़ पर ज़ोरः

जिस तरह बच्चों को शिक्षा का हुक्म दिया गया है और चाल चलन सिखाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया है उसी तरह इन्हें इबादत व (भक्ति) और ख़ुदा के कहे पर चलने की आदत डालने पर भी ज़ोर दिया गया है।

छः या सात बरस की उम्र से नमाज़ पढ़ने की आदत डालना चाहिए, इसमें जितना समय बीते और बालिग़ (वयस्क) होने का वक़्त क़रीब आता जाए उतनी ज़्यादा कड़ाई और बल की ज़रूरत है।

इमाम जाफ़र सादिक़ (अ०) की हदीस है, आपसे पूछा गया "वह कौन सी उम्र है जिसमें बच्चे को नमाज़ का नियमित या आदी बनाना चाहिए" - हज़रत (अ०) ने फ़रमाया", सात बरस और छः बरस के बीच"। इस 'बीच' के मानी वही हैं जिन्हें मैने इसके पहले शिक्षा के मसले में बयान किया है कि हक़ीक़त में शरीयत ने इस जगह एक बन्धी टिकी उम्र के बन्धन से काम नहीं लिया है बल्कि उम्र का एक अन्दाज़ा बता दिया है कि लगभग इतनी उम्र (६ और ७ बरस के बीच) में बच्चा आम तौर पर ऐसा हो जाता है कि समझ और सीख सके।

मोहम्मद बिन मुस्लिम की रवायत से इस पर काफ़ी रौशनी पड़ती है, "बच्चे के बारे में इमाम (अ०) से पूछा कि इसे कब नमाज़ पढ़ना चाहिए? फ़रमाया : "जब वह नमाज़ को समझने लगे पूछा" "कब नमाज़ को समझने लगता है और नमाज़ इसके लिए कब साबित होती है?" हज़रत (अ०) ने फ़रमाया, "छः बरस की उम्र में" मालूम होता है कि इसकी कसौटी ये है कि बच्चे में समझ पैदा हो जाए। इमाम जाफ़रे सादिक़ (अ०) की हदीस है :-

"जब बच्चे की उम्र छः बरस हो तो नमाज़ का हुक्म इसके लिए साबित होता है और जब रोज़े की ताक़त हो तो रोज़ा रखने का हुक्म है।"

ऊपर दी हुई रवायत में रावी के सवाल में और इस हदीस में इमाम के जवाब में अरबी में 'वजूब' का शब्द है, जिससे लगता है कि वह वाजिब है। मगर इमामों के शब्दों के छानबीन से ये पता चलता है कि वजूब,(वाजिब होना) तहरीम, (हराम) इसतहबाब,(मुस्तहब) कराहत (मकरूह) और एबाहत (मुबाह होना यानी शरीयत में उस काम के करने या न करने के बारे में कुछ नहीं कहा गया है) के पारिभाषिक शब्द के रूप में जो माने हैं वह इल्मे फ़िक़्ह (धर्म विधिशास्त्र) के जमा करने वाले फ़क़ीहों (धर्म विधि शास्त्रियों) के बीच दिये गये हैं।

इसके पहले कुर्आन व हदीस में ज़्यादातर ये ;क्पबजपवदंतल /शब्दकोशों के मानी में इस्तेमाल होते थे, इसलिए वाजिब का मतलब मुस्तहब से लेना और मुस्तहब का से।

इसी तरह हराम व मकरूह के शब्द एक दूसरे के मानों में अक्सर इस्तेमाल होते हैं, ये जगह और बाहरी दलीलों से पता लगता है कि पारिभाषिक रूप से वाजिब या मुस्तहब है।

लगातार हदीसें इस बात के सुबूत में मौजूद हैं कि बच्चा जब तक बालिग़ न हो उस वक़्त तक शरीयत के आदेश उस पर लागू नहीं होते और बालिग़ होने की सीमा भी तय कर दी गई है कि वह पन्द्रह बरस है इसलिए इन हदीसों में मुस्तहब होना समझना चाहिये, हालांकि इसको कहीं वाजिब के मतलब से लिया गया है।

इमाम मो० बाक़िर(अ०) की हदीस में है :-

इरशाद होता है कि "हम लोग (मासूम (निष्पाप) अहलेबैत (अ०)) अपने बच्चों को नमाज़ पढ़ने का हुक्म देते हैं, जब वह पाँच बरस के हों इसीलिये तुम लोग (कम से कम) अपने बच्चों को नमाज़ के लिए हुक्म दो जब वह सात बरस के हों।"

ये बात उस उसूल की बुनियाद पर है कि जो लोग मज़हब के रास्ता दिखाने वाले, (मार्ग दर्शक) हों उनको ज़रूरत है कि वह मज़हबी हुक्म की तरफ़ उस से ज़्यादा तवज्जो करें, जितना कि आम लोगों से कहते हैं। इस हदीस का लहजा "मुस्तहब" को साफ़ बताता है, इसलिए कि वाजिब में शरीयत की ओर से धार्मिक बन्धन (निश्चित समय-सीमा की पाबन्दी) होता है और उसका हुक्म सबके लिए आम (एक जैसा) होता है, उसमें व्यापकता/Generalization होती है। यह फ़र्क़ करना और इस तरह अपने यहाँ की मिसाल करने का न्यौता

देना, इस बात से 'मुस्तहब' होना ज़्यादा मुनासिब लगता है।

अब उलेमा की राय अलग अलग है कि ये बच्चे जो नमाज़-रोज़े वग़ैरह करता है क्या ये इबादत (भक्ति) की हैसियत रखते हैं? यानि इसको उन कामों का सवाब मिलेगा? या उन बच्चों के इन कामों की हैसियत बस मश्क़ या PT जैसी है? इसी वजह से ये आम तौर से मशहूर हो गया है कि जो बच्चा नमाज़ पढ़ता है उसका सवाब इसे नहीं होता बल्कि माँ-बाप को होता है।

इस बात की बुनियाद उसी हुक्म पर है कि जब ये कोई इबादत नहीं है और सिर्फ़ प्रैक्टिस है तो ये ज़ाहिर है कि प्रैक्टिस कराने का लगाव माँ-बाप से है, इसीलिए उन्हीं को इसका सवाब भी होगा।

लेकिन मेरी नज़र में इस मसले में एक आम नियम या Formula की तरह कोई फ़ैसला करना सही नहीं है, बल्कि इसकी सूरते अलग-अलग होती हैं -

एक सूरत तो ये है कि बच्चे को इतना एहसास अभी पैदा नहीं हुआ है कि वह नमाज़ को ख़ुदा का हुक्म समझ कर उसी इरादे से पढ़े। लेकिन माँ बाप इबादत का शौक़ पैदा करने के लिए इस को नमाज़ पढ़ने को कहें या वह एक शरीर, उधमी और बुरा लड़का है और ये समझते हुये कि ये ख़ुदा का एक हुक्म है और अच्छी बात है लेकिन फिर भी अगर माँ बाप इस को मजबूर करें तो वह नमाज़ नहीं पढ़ेगा। वह नमाज़ पढ़ता है सिर्फ़ माँ-बाप की ज़बरदस्ती से और उनके डर के मारे, इसलिए वह अक्सर माँ-बाप को झाँसे में भी ले लेता है और नमाज़ को उड़ा देता है, ऐसी सूरत में बेशक ये काम इबादत नहीं है, इसलिए कि ख़ुदा के पास पंहुचने का मन इबादत का असली सूत्र है, वह उसमें मौजूद नहीं, ऐसा काम अगर कोई बालिग़ और समझवाला इन्सान करे तो वह काम भी क़ुबूल करने के क़ाबिल नहीं होगा। इस काम को करने का सेहरा सिर्फ़ माँ-बाप के सर है जो आदत डालने के लिए बच्चे को उसके करने पर मजबूर करते हैं। वह बेशक उसकी आने वाली जिन्दगी के लिए फ़ायदेमन्द है, इसलिए कि इस ज़रिये से एक वक़्त में इसको अपने फ़र्ज़ का एहसास भी पैदा हो सकता है, और वह सही तरीक़े से इबादत को अन्जाम देने लगे, इसलिए इस वक़्त नमाज़, रोज़े के करने का सवाब उन्हीं माँ-बाप को मिलना चाहिए।

दूसरी सूरत ये है कि बच्चे में ख़ुद इबादत का शौक़ है तथा उसे चाव और रूचि है कि वह उस काम को जो ख़ुदा की तरफ़ से उसके बन्दों पर लागू हुआ है, उसे करे । यहाँ तक कि हो सकता है कभी माँ बाप रोकते भी हों कि रोज़ा न रखो या नमाज़ न पढ़ो तो वह बच्चा नहीं मानता और उसे बेचैनी पैदा होती है कि किसी तरह वह उस इबादत को कर डाले। ऐसे बच्चे जो आमाल करते है बेशक उसके सवाब का उन्हीं को हक़ है। बालिग़ होने की उम्र निश्चित किया जाना ख़ुदा की तरफ़ से एक मेहरबानी है जिसकी वजह से १५ बरस तक इन्सान शरीयत के हुक्मों से आज़ाद रखा गया है, वरना अक़्ली हैसियत से अक्सर बच्चे इसके बहुत पहले इस क़ाबिल हो जाते हैं कि उन पर पाबन्दियाँ लागू की जा सकें। १५ बरस तक आज़ाद रखना सिर्फ़ एहसान है और कुछ नहीं लेकिन मेहरबानी व एहसान उसी वक़्त तक आभार है जब तक वह किसी हैसियत से मेहरबानी के ख़िलाफ़ न हो। यहाँ एहसान का मतलब सिर्फ़ ये है कि बालिग़ होने के पहले इन्सान को गुनाहों की सज़ा से छूट दी जाए, लेकिन अगर वह इबादत और उसके आदेशों के पालन करने का सही एहसास रखते हैं और उसकी बरकतों से फ़ायदा उठाना चाहते हैं तो उन्हें इन बरकतों से रोके रखना और वन्चित करना और उसके सवाब से वन्चित रखना बिल्कुल मेहरबानी और एहसान के ख़िलाफ़ है, बच्चों के खाते में सवाब गुनाह न लिखे जाने के बारे में सटीक हुक्म इसको बिल्कुल ही नहीं बताते, बेशक इस सूरत में अगर माँ-बाप इबादत के लिए रिझाते हैं और इससे बच्चे में इबादत भक्ति और कर्मभाव व अ़मल का जज़्बा पैदा होता है, तो जिस तरह बच्चे को उसके कर्म करने का सवाब पाने का हक़ है, उसी तरह उन माँ-बाप को रिझाने, लुभाने और प्रेरित करने के लिए सवाब मिलना चाहिए, जिस तरह अगर किसी समझदार जवान या बूढ़े को इबादत की दावत दी जाए तो उनके अच्छे कार्यों का सवाब करने वाले को भी है और उसके लिए प्रेरित करने वाले को भी सवाब।

इसके माने ये हुए कि वाजिब कार्यों के बच्चों पर ज़रूरी नही है उन्हें इससे छूट है लेकिन मुस्तहब का दर्जा उनके लिए भी साबित है। जो मुस्तहब काम आम लोगों के लिए हैं वह बच्चों के लिए भी हैं और इनसे बच्चों छूट को देने की कोई वजह नहीं है।

लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा के ख़ास उसूलः

बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में जिस उसूल से इन को इबादत व भक्ति आदत डालने का हुक्म है, उसी उसूल से लड़कियों की शिक्षा में कुछ बातों पर ख़ास ध्यान करने की ज़रूरत है जो उनके चाल चलन को सुधारने के लिए बहुत ही ज़रूरी हैं। लड़कियों को उनके आने वाले दिनो में एक ख़ास तरह का जीवन बिताना होता है और शरीयत के हुक्म से उनके लिए परदा ज़रूरी होगा, इसलिए उनको कमसिनी से परदे करते रहने के लिए तैयार किया जाए। उन घरानों की बात नहीं करता और उन लोगों से बहस नहीं जिनके यहाँ अब औरतों के लिए परदा कोई चीज़ ही नहीं रहा मगर वह शरीफ़ घराने जहाँ अब भी परदे की कुछ अहमियत बची है, उनको इस बात का ख़याल रखने की ज़रूरत है कि लड़कियों के बचपने में उन्हें उस तरह आज़ाद न रखा जाए, जिस तरह लड़के आज़ाद रहते है।

बहुत देखा गया है कि लड़कियों को बालिग़/व्यस्क होने के वक़्त तक बाहर निकलने और लड़कों के साथ खेलने की इजाज़त रहती है, बल्कि कभी-कभी शरीरयत के हिसाब से बालिग़ होने के वक़्त तक यानि ६ बरस पूरे भी हो जाते हैं मगर उसे अभी बच्चा समझा जाता है और परदे का कोई ख़याल नहीं किया जाता है। उन लोगों को ये समझना चाहिए कि लड़की मानव है और कमज़ोर है। उस के स्वभाव में असर लेने का काफ़ी गुन होता है । अगर बचपन में उसे तफ़रीह की जगहों पर जाने का चस्का, बाग़ों की सैर का शौक़ और दुनिया के तमाश देखने का मज़ा मिल गया, तो बालिग़ होने या आपके हिसाब से जवानी का ज़माना आते ही उसके पैर एक दम से बान्धना और परदे के अन्दर क़ैद करना इसकी फ़ितरत के ऊपर एक ऐसा ज़बरदस्त दबाव होगा जिसे वह मुश्किल से सह पायेगी। अगर सच में आपको उसे आने वाले दिनों में परदा कराना है तो उस के लिए आप को पहले से उसके स्वभाव को आदी करना चाहिए। उसका तरीक़ा वही है कि इस वक़्त की बात नहीं हैं बल्कि जब भी उस में समझ पैदा हो तभी से उसे ये एहसास पैदा कराइये कि वह "लड़की" है, और उसे लड़की की तरह ही रहना चाहिए। इस में सूझबूझ के साथ धीरे धीरे दर्जा-दर्जा (Gradually) से करना चाहिए, और जब वह छः-सात साल की हो जाए तो उसे पूरी तरह परदे का आदी बना देना चाहिए। इस तरह उसके स्वभाव को उस सांचे में ढालना चाहिए कि उसे "सैर और तमाशे" का चस्का ही पैदा न हो। अजनबी लड़कों के साथ समझदार लड़कियों का खेलने देना किसी तरह अच्छा नहीं है। वह बचपने में साथ खेलने की चाह, प्यार ही एक वक़्त में दूसरा रूप ले सकती है जिस पर माँ बाप को बाद में पछतावा व अफ़सोस होगा। अक्सर बच्चों से जो कहानियाँ कही जाती हैं, उन में इश्क़ व मोहब्बत का बयान होता है। ये चीज़ लड़कियों के लिए ख़ास तौर से नुक़्सानवाली है। उन से जो कहानियां कही जाती हैं उन में अगर सच्चाई, ईमानदारी, विश्वास इत्यादि का सबक़ मिलता हो तब तो बहुत अच्छा है, और नहीं तो कम से कम ऐसी बातें तो नहीं होनी चाहिऐ, जो उनके दिमाग़ को बुरे ख़यालों का अड्डा बना दें। मैं तो लड़कियों से ऐसी कहानियाँ कहने का भी क़ायल नहीं हूँ, जिनमें पाक आंचल, औरों की इज़्ज़त का बयान हो, जैसे बादशाह, क़ाज़ी (न्यायाधीश) और उसकी बीवी की कहानी जो अक्सर पुरानी किताबों में मिलती है, और शायरों ने उस पर कविताऐं की है। क्योंकि इस तरह की कहानियों में भी मर्द व औरत के रिश्तों की बात इस तरह जरूर होती है, जिससे मेरी राय में छोटी लड़कियों के दिमाग़ दिमाग़ का बिल्कुल कोरा रहना ही बेहतर है न कि वह कहानियां जिन में नाजएज़ ताल्लुक़ और मिलन व विरह की झूठी कहानियों का बयान हो।

मेरी नज़र में लड़कियों की शिक्षा और पालने की जो कसौटी है वह तो इतनी मुश्किल है कि शायद आज के समाजी सिस्टम में उस पर चला ही नहीं जा सकता है।

लड़की के सामने ज़्यादा शादी की बात करना, जैसे अक्सर दिलचस्पी के लिये उस के घूँघट निकाल देते

हैं, कहते हैं लो, 'दुल्हन बैठी है' या उस को शर्म लाज्जा दिलाने के लिए चाहे न चाहे उसके के सामने शादी का नाम लेते हैं, ये चीज़े वह है जो उसके दिमाग़ में ये ख़्याल पैदा करती हैं कि शादी एक ख़ास चीज़ है, जिस में कुछ ख़ास मज़ा छिपा है, उस का नतीजा ये होता है कि वह उस वक़्त का इन्तेज़ार करने लगती है और उसके बाद अगर उसमें देर होने लगती है तो उस का नतीजा कुछ अच्छा नहीं हो सकता। एक सीधी साधी लड़की जिस में प्यास है ही नहीं यानी उसमें किसी चीज़ का शौक़ व आरजू मौजूद नहीं है, उसे सिर्फ़ अच्छे लगने वाले बयानों से 'प्यासा' बना दिया जाता है, फ़िर जिस वक़्त उस को सच्ची प्यास होगी तो आप ही उसके मक़्सद को पा लेने में देर भी करेंगे,बेशक अब इसमें जो कुछ भी बुरे नतीजे पैदा हो जाएं वह कम हैं। कुछ चीज़ें ऐसी है कि जिनसे सीधे तो नही मगर किसी तरह शादी की चाहत मज़बूत हो जाती है जबकि उन ज़रियों को अपनाने का मक़सद तो नेक था, मगर मेरे नज़दीक उसका तरीक़ा अच्छा नहीं अपनाया गया।

अक्सर घरानों में बहुत सी चीज़े ऐसी हैं जो कुवांरी लड़कियों के लिए मना है, जैसे मिस्सी लगाना, उल्टे बाल बनाना, इत्र लगाना, हार-फूल पहनना, पायचेदार पैजामा पहनना वग़ैरह-वगैरह जब लड़की इन कामों को करना चाहती है तो उसे यह कह कर रोक दिया जाता है कि तुम्हारी अभी शादी नहीं हुई है तुमको अभी ये सब नहीं करना चाहिए तो अब इसका नतीजा ये होता है कि लड़की को शादी की चाहत पैदा हो जाती है। ये चाहत इसलिए नहीं कि वह शादी की असल और सच्चाई को जान गयी है, बल्कि इसलिए कि शादी हो तो हमें भी ये सब साज-सिंगार की इजाज़त मिले। सच में इस रीति की बुनियाद उस सोच पर थी कि हुस्न सौन्दर्य को सजाना सवाँरना ख़ुद को दिखाना है, अगर लड़की सजी-सँवरी होगी सिंगार किये होगी तो अपने आप उसके दिमाग़ में इस तरह का ख़याल पैदा होगा कि उसको देखने वाला (कोई) होना चाहिए। लेकिन अगर वह साज सिंगार से अलग रहे तो उस के दिमाग़ में ये ख़याल पैदा ही नहीं होगा, लेकिन इस मक़्सद के लिए ऐसे तरीक़ों की, ज़रूरत थी कि लड़की के दिल में साज सिंगार की चाह पैदा ही न हो। शिक्षा के उसूल से इस का सही तरीक़ा ये था कि जब से लड़की ज़रा समझदार हो तो उस की माँ, बड़ी बहनें और दूसरी बड़ी औरतें जो घर में रहती हों वे खुद अपने आप को सजाना-सवाँरना कम कर दें जिससे लड़की भी इसी माहौल में पले, यह नहीं कि जब किसी शादी-ब्याह में जाने लगें तो जितनी घर की औरते हैं, सबने अच्छे से अच्छे तरीक़े से अपने आप को सजा-संवार लिया और हुस्न को सवाँरने के लिए ज़रूरत के जितने समान हैं वह सब इकट्ठा कर लिया हो, सिर्फ़ एक ये "गुनहगार" बिन ब्याही लड़की रह गयी जो सबसे अलग बनाव की है। यह चाहती है कि उसी तरह यह भी सजे-सँवरे, तो उससे यह कह दिया जाता है कि नहीं - ख़बरदार! तुम्हारी अभी शादी नहीं हुई है, तुम को अभी हक़ नहीं। अब न पूछिये कि उसके दिल पर क्या बीतेगी और उसे किस तरह अपनी दूसरी साथी औरतों को देख कर ये चाहेगी कि कहीं मैं भी इसी तरह सजती-सवँरती। इस तरह वह चाहे अनचाहे शादी के वक़्त का रास्ता देखने लगती है।

ये कुछ बुरा नहीं था अगर आप इस बारे में शरीयत के हुक्म पर चलते। वहाँ ये हुक्म है कि लड़की की शादी बहुत जल्दी करो। यहाँ तक कि अगर वह अपने शौहर पति (दूल्हा) के घर में ही बालिग़ हो तो बहुत अच्छा है, मगर यहां तो लड़कियाँ अक्सर २०-२५ साल तक बिठाए रखी जाती हैं, क्योंकि आपका मन चाहा वर नहीं मिलता, और अक्सर लड़कियों के "जीवन का बसन्त" इसी तरह 'पतझड़ हो जाता है, यानि ज़िन्दगी बेरौनक़ हो जाती है और वह सच में जीते जी क़ब्र में चली जाती है। इस तरीक़े के साथ फिर वह बड़ी चोट देने और मार डालने वाला है। और क्या मालूम कि जो बुरे हादसे सामने आते है, इनमें कहाँ-कहाँ माँ बाप ही का तौर-तरीक़ा उनकी वजह होता है, जिसकी ख़राब सूरतें सामने आती हैं।

(..... जारी)